प्राचीन जैन इतिहास संग्रह

(भाग ग्यारवां)

[महाजन संघ का इतिहास]

— ज्ञानसुन्दर —

श्री जैन इतिहास ज्ञान भानु किरण नं० ११

श्री मद्रत्नप्रभसूरीश्वर पादकमलेभ्यो नमः

महाजन संघ का इतिहास

लेखक

इतिहास प्रेमी मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज

प्रकाशक

श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला

फलोदी (मारवाड़)

ओसवाल संवत् २३९४

वीर सं० २४६३ प्रति ५०० वि० सं० १९९४

प्रबन्धकर्ता

K. M. B. N.

शीघ्रता कीजिये

मूर्ति-पूजा का प्राचीन इतिहास

और

श्रीमान् लोंकाशाह

ग्रन्थ क्या है एक प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणों का खजाना और प्राचीन हजारों वर्षों की भूगर्भ से निकली हुई तीर्थङ्करों की और हाथ में मुँहपत्ती युक्त आचार्यों की प्राचीन मूर्तियों के चित्रों का तो एक अजायबघर ही है। १००० पृष्ठ ५३ चित्र दो पक्की कपड़े की जिल्दें होने पर भी मूल्य मात्र रु० ५), जल्दी कीजिये।

पता—शाह नवलमल गणेशमल
कटरा बजार, जोधपुर (मारवाड़)

मुद्रक—
शम्भूसिंह भाटी
आदर्श प्रेस, कैसरगंज,
अजमेर

श्री महाजन संघ का इतिहास

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद जैन-धर्म में दो परम्पराएँ विद्यमान थीं। एक तो भगवान् महावीर की परम्परा, जिसके अधिपति थे गणधर सौधर्माचार्य और दूसरी परम्परा थी प्रभु पार्श्वनाथ की, जिसके नायक थे केशी श्रमणाचार्य के पट्टधर आचार्य स्वयंप्रभसूरि।

उस समय जैन श्रमणों का विहार-क्षेत्र प्रायः पूर्व भारत ही था और आचार्य सौधर्मसूरि की संतान पूर्व भारत में भ्रमण कर जैन-धर्म का प्रचार करने में दत्तचित्त थी। हाँ, आचार्य स्वयंप्रभसूरि जरूर अपने ५०० शिष्यों को साथ ले पश्चिम भारत की ओर प्रस्थान कर राजपूताना को अपना विहार-क्षेत्र बना आगे की ओर बढ़ रहे थे।

राजपूताना आदि कई पश्चिमी प्रान्तों में उस समय नास्तिक तांत्रिकों एवं बाममार्गियों का बड़ा ही जोर शोर था। क्या बड़े-बड़े नगर और क्या छोटे-छोटे गाँव, सर्वत्र उनका ही बोलबाला था। यत्र तत्र उन पाखंडियों के अखाड़े जमे हुए थे। मांस, मदिरा, और व्यभिचार का सर्वत्र अबाध प्रचार था और वे पाखण्डी लोग इन असत्कर्मों में ही धर्म, पुण्य एवं स्वर्ग प्राप्ति बतला रहे थे। धर्म के नाम पर असंख्य निरपराधी मूक प्राणियों के रक्त से यज्ञ की वेदियां रञ्जित की जाती थीं इत्यादि अनेक अत्याचारों की भीषण भट्टियें सब जगह धधक रही थीं। जनता

में एक तरह से त्राहि त्राहि की पुकार मच गई थी। ऐसे समय में प्रकृति एक ऐसे दिव्य शक्तिशाली एवं क्रांतिकारी महापुरुष की प्रतीक्षा कर रही थी जो इस बिगड़ी को सुधारने में सर्वथा समर्थ हो।

ठीक उसी समय आचार्य स्वयंप्रभसूरि अपने शिष्य समुदाय के साथ नाना कठिनाइयों का सामना करते हुए क्रमशः श्रीमाल (भिन्नमाल) नगर के रम्य उद्यान में आ निकले। उस वक्त वहाँ एक विराट् यज्ञ का आयोजन हो रहा था और उसमें बलि देने को लाखों पशु एकत्रित किये जा रहे थे।

जब आचार्यदेव ने इस बात को तत्रस्थ जनता से एवं अपने शिष्यों से सावधानी पूर्वक सुन ली, तब स्वयं राज सभा में उपस्थित होकर "अहिंसा परमोधर्मः" के विषय में जैन और जैनेतर शास्त्रों के अनेक अकाट्य प्रमाण और मानव बुद्धि गम्य विविध युक्तियाँ जनता के सामने रख अपनी ओजस्विनी वाणी और मधुर एवं रोचक भाषण शैली से उपदेश देकर उपस्थित लोगों को मंत्र-मुग्ध कर उन पर ऐसा प्रबल प्रभाव डाला कि कुछ समय पूर्व जिस कर्म को वे श्रेष्ठ बतला रहे थे उसे स्वयं ही निष्ठुर और घृणित कर्म घोषित करने लगे तथा उस पाशविक प्रवृत्ति से पराङ्मुख होकर आचार्य देव के चरणों में आ शिर झुका दिया। तब आचार्य श्री ने उनको जैन-धर्म के मूल तत्व समझाकर राजा प्रजा के ९०००० घरों के लाखों नर नारियों को जैन-धर्म में दीक्षित कर अपना अनुयायी बना लिया और उन मूक प्राणियों को भी सदा के लिए अभय दान दिलवाया। तदनन्तर आचार्य श्री ने धर्म के सब साधनों में प्रधान साधन-मन्दिर मूर्त्ति की सेवा

पूजा का उपदेश दिया और वहाँ के भक्त लोगों ने उस आज्ञा को तत्क्षण शिरोधार्य कर आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का विशाल मन्दिर बनवाना प्रारम्भ कर दिया। आचार्य महाराज ने एक मास❀ तक वहाँ ठहर उन नूतन जैनों (श्रावकों) को जैन-धर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त की शिक्षा देकर तथा उनको जैन धर्म का आचार व्यवहार बता उनकी श्रद्धा को दृढ़ कर दिया।

अनन्तर आचार्य देव ने एक दिन यह सम्वाद सुना कि आबू के पास पद्मावती नगरी है वहाँ भी एक ऐसा ही विशाल यज्ञ होना निश्चित हुआ है और उस यज्ञ में भी बलिदान के लिये लाखों पशु इकट्ठे किये गये हैं। फिर क्या देरी थी, सुनते ही सूरिजी ने आबू की ओर विहार किया। क्योंकि वीर पुरुष जब एक बार अपने इष्ट कार्य में सफलता प्राप्त कर लेता है तब उसकी अन्तरात्मा में एक अदम्य उत्साह शक्ति तथा प्रभूत पौरुष का संचार हो जाता है और वह बिना विलम्ब के तत्क्षण ही दूसरी बार कार्य क्षेत्र में कूद पड़ने को कटिबद्ध हो जाता है। बस! आचार्य श्री भी इस विचार से पद्मावती पहुँच गये और साथ ही उनकी शिष्य मंडली तथा श्रीमाल नगर के श्रावक भी वहाँ जा धमके क्योंकि ऐसा अवसर वे भी तो कब चूकने वाले थे। वहाँ जाकर आचार्य श्री सीधे ही राज सभा में पहुँच कर राजा एवं यज्ञाध्यक्षों को तथा उपस्थित नागरिकों को संबोधित कर अहिंसा के विषय में

❀ तच्छिष्या समाजायन्त, श्री स्वयंप्रभसूरयः।
विहरन्त क्रमेणैयुः, श्री श्रीमालं कदापिते ॥ २० ॥
तस्थुस्ते तत्पुरोद्याने, मास कल्प मुनीश्वरा।
उपास्य मानाः सततं, भव्यैर्भवतरूच्छिदे ॥ २१ ॥

खूब जोरदार व्याख्यान देने लगे। पर चिरकाल के संस्कार-संपन्न व्यक्ति अपने दूषित संस्कारों और रूढ़ि को शीघ्र ही छोड़ने को कब तैयार थे। अतः वहाँ के नामधारी पण्डित ब्राह्मणों के साथ आचार्य श्री का शास्त्रार्थ भी हुआ, पर आखिर अहिंसा भगवती के चरणों में सब को शिर झुकाना ही पड़ा; अर्थात् वहाँ (पद्मावती में) भी ४५००० घरों के लाखों राजपूत आदि लोगों ने जैन-धर्म को स्वीकार कर लिया। तब आचार्यदेव ने उनके आत्म-कल्याणार्थ प्रभु शान्तिनाथ का एक भव्य मन्दिर बनवा दिया। ये ही लोग आगे चलकर श्रीमाल एवं प्राग्वट (पोरवालों) के नाम से प्रख्यात हुए। आचार्य स्वयंप्रभसूरि अपने शेष जीवन में आबू और श्रीमाल नगर के प्रदेशों में भ्रमण कर लाखों अजैनों को जैन बनाने में भगीरथ प्रयत्न कर अन्त में मुनि रत्नचूड़को अपने पट्ट पर स्थापन कर आप श्री गिरराज तीर्थ पर जाकर आराधना पूर्वक अनशन कर वीर निर्वाण के पश्चात् ५२ वें वर्ष में चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन स्वर्गधाम को प्राप्त हुए। अतएव समग्र जैन समाज और विशेषकर श्रीमाल-पोरवालों का ख़ास कर्त्तव्य है कि वे प्रत्येक वर्ष की चै० शु० १ के दिन आचार्य श्री का जयन्ति-महोत्सव बड़े ही समारोह से मना कर अपने आपको कृत-कृत्य समझें।

आचार्य स्वयंप्रभसूरि के पट्ट प्रभाकर आचार्य रत्नप्रभसूरि (रत्नचूड़) हुए। आपका जन्म विद्याधर वंश में हुआ, अतः आप स्वभावतः अनेक विद्याओं से परिपूर्ण थे। आचार्य पद प्राप्त होते ही आपने सोचा कि "क्या मैं मेरा जीवन पूर्वाचार्य के बनाए हुए श्रावकों पर ही समाप्त कर दूँगा ? नहीं ! मुझे भी

उन आचार्यवर्य का अनुसरण करना चाहिये।" यह सोच आपने अपने विहार-क्षेत्र को आगे बढ़ाने का निश्चय कर अपने ५०० शिष्यों को साथ में लेकर विहार कर दिया।

उस समय मरुधर देश में नूतन बसा हुआ उपकेशपुर नगर जैसे व्यापार का प्रधान केन्द्र गिना जाता था वैसे ही वह! वाम-मार्गियों का भी एक बड़ा भारी धाम समझा जाता था। अतः आचार्य रत्नप्रभसूरि भी क्रमशः विहार करते हुये उपकेशपुर नगर की ओर पधार गये। पर वहाँ आपको कौन पूछता ? स्वागत तो दूर रहा वहाँ तो आहार, पानी और ठहरने के लिए स्थान आदि का भी अभाव था। पर जिन्होंने जन-कल्याणार्थ अपना सर्वस्व तक अर्पण करने का निश्चय कर लिया है, उनके लिए दो चार नहीं पर सैकड़ों आपत्तियें भी सामने आवें तो क्या परवाह है ? आचार्य श्री ने अपने शिष्यों के साथ जंगल और पहाड़ों में एकान्त ध्यान लगा दिया और इस प्रकार कई मास तक भूखे प्यासे रह कर तपोवृद्धि की। आखिर शुद्ध तपश्चर्या, उत्कृष्ठ त्याग, और निःस्पृहता का जनता पर इस प्रकार का प्रचण्ड प्रभाव पड़ा कि मानो कोई जादू का ही असर हुआ हो और इधर ऐसे अनेकों अन्यान्य निमित्त कारण भी मिल गए, जैसे कि वहां की अधिष्ठात्री देवी चामुंडा की आग्रह पूर्वक विनती और सूरिजी के कार्य में सहायता, तथा एक ओर तो सूरिजी के चरणांगुष्ठ प्रक्षालन जल के छिड़कने से वहां के राजा का जामाता जो सर्प विष से मृतप्राय हो गया था, सहसा निर्विष हो उठ खड़ा हुआ और दूसरी ओर राजा का इस प्रतिकार के लिए अपने समृद्ध राज्य को सूरिजी के चरणों में समर्पित करना और सूरिजी का इस

आए हुए राज्य को भी त्याग की भावना से ठुकरा देना तथा इन उभय आश्चर्यों को देख तत्रस्थ जनता का विस्मित हो धन्य २ की अविरल ध्वनि के साथ ही सूरिजी के चरणों में शिर झुका लेना इत्यादि कारणों से तत्काल ही सारे के सारे नगर और पार्श्ववर्त्ती प्रदेशों में भी सूरिजी के अलौकिक सामर्थ्य की धाक जम गई और राजा प्रजा हर्ष से मुग्ध तथा आश्चर्य से गर्क हो नगर को लौट गए और जहां देखो वहां ही आचार्य महाराज के अद्भुत गुणों का गान और भूरि २ प्रशंसा होने लगी। ठीक ही है "चमत्कार को नमस्कार हुआ ही करता है।"

दूसरे दिन हाथी, घोड़े, ऊंट, रथ, पैदल पलटन एवं मय गाना-बाजा के राजा प्रजा सूरिजी को वन्दन एवं आपकी अमृत-मय देशना का पान करने को सूरिजी के पास आए। सूरिजी ने ज्योंही जैनधर्म के मूल एवं मुख्य सिद्धान्त बड़ी योग्यता के साथ उपस्थित लोगों को सुनाये, त्योंही उन्होंने सत्य धर्म को समझ कर मिथ्यात्व का परित्याग कर दिया और सबसे पहिले सूर्यवंश मुकुट-मणि महाराजा उत्पलदेव ने शिर का मुकुट उतार, जमीन पर घुटने टेक सूरिजी के चरणों में प्रणाम कर गुरु मंत्र की याचना की। जब स्वयं राजा भी नम गए तो मंत्री क्यों कर पीछे रह सकता। उसने भी मस्तक से सिरपेंच (पाग) हाथ में ले अपने स्वामी का अनुकरण किया। तदनन्तर मंत्री के पुत्र ने भी उन्हीं की आवृत्ति की जिसको कि सर्प ने डशा था और सूरिजी ने उसे निर्विष किया था। इसी प्रकार राजकन्या, राजपत्नी और नगर के अनेकों क्षत्रादि* नरनारी नत मस्तक हो खड़े हो गए। इन सबका

* कई लोग यह भी कह देते हैं कि आचार्य रत्नप्रभसूरि ने ओसियां

खासा तांता-सा लग गया जिनकी कि गिनती लगानी कठिन हो गई।

अस्तु ! इसके बाद देवी चक्रेश्वरी ऋद्धि सिद्धि पूर्ण वासक्षेप का थाल लेकर सूरिजी की सेवा में समुपस्थित हुई। सूरिजी ने मंत्र और वासक्षेप से उन आचार-पतित क्षत्रियों को शुद्ध कर उन सबको जैन धर्म में दीक्षित किया (देखो सामने के चित्र में) और वहां पर महावीर का मन्दिर बनवाया, जिसकी प्रतिष्ठा वीरात ७० वर्ष के बाद माघ शुक्ल पंचमी को आचार्य श्री के कर कमलों से हुई थी। उसी लग्न में सूरिजी ने वैक्रय लब्धि से दूसरा रूप बना कर कोरंटपुर में भी महावीर के मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाई थी और वे दोनों मन्दिर आद्यविधि विद्यमान भी हैं। प्रतिष्ठा के समय उन नये जैनियों के घरों की संख्या लगाई

नगरी में राजा प्रजा अर्थात् नगरी के तमाम लोगों को जैन बना दिये जिसमें भंगी ढेढ चंडालादि भी शामिल थे। यही कारण है कि ओसवालों में महत्तर, ढेढिया, चण्डालआदि गौत्र शामिल हैं इत्यादि। पर यह कहने वालों की इतिहास ज्ञान की अनभिज्ञता ही है क्योंकि उस समय की परिस्थिति का थोड़ा भी ज्ञान होता तो यह कभी नहीं कहते। इस विषय में मेरी लिखी 'ओसवाल ज्ञाति समय निर्णय' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिये। उसमें यह प्रमाणित किया गया है कि ओसवाल जाति विशुद्ध क्षत्रियवंश से उत्पन्न हुई है। हां पीछे से कई वैश्य ब्राह्मणादि भी इसमें शामिल हुए हैं पर शूद्र इसमें शामिल नहीं हैं। यदि ओसवाल ज्ञाति में शूद्र शामिल होते तो उस समय के जैनों के कट्टर शत्रु अन्य लोग ओसवालों को इतना मान कभी नहीं देते जो कि उन्होंने दिया था। अतः ओसवाल कौम पवित्र क्षत्रिय वर्ण से ही बनी है।

तो केवल उपकेशपुर में ही ३८४००० घर थे और उनमें लाखों नर नारी रहते थे जिन्होंने कि जैन धर्म को स्वीकार किया।

आचार्य रत्नप्रभसूरि चौदह पूर्वधर थे। उपयोग लगाने से भूत, भविष्य, और वर्तमान की सब बातों को केवली के सदृश ज़ानते थे। अतएव आचार्य श्री ने भविष्य के लाभाऽलाभ व वर्तमान की परिस्थिति को लक्ष्य में रख कर ही उन नूतन बनाये जैनों की एक सार्वजनिक संस्था स्थापित करदी और उसका नाम "महाजन संघ" रख दिया। इस संस्था को क़ायम करने में आप श्री ने और भी अनेक फायदे देखे थे जैसे कि:—

(१) जिस समय प्रस्तुत संस्था स्थापित की थी उसके पूर्व उस प्रान्त में क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, और क्या धार्मिक सभी कार्यों की संकलन टूट कर उनका अत्यधिक पतन होगया था। अतः इन सबका सुधार करने के लिये ऐसी एक संगठित संस्था की परमावश्यकता थी, और उसी की पूर्ति के लिये आपका यह सफल प्रयास था।

(२) संस्था कायम करने के पूर्व उन लोगों में मांस मदिरा का प्रचुरता से प्रचार था। यद्यपि आचार्य श्री ने बहुत लोगों को दीक्षा के समय इस दुर्व्यसन से मुक्त कर दिया था तथापि सदा के लिये इस नियम को दृढ़ता पूर्वक पालन करवाना तथा अन्यान्य समाजोपयोगी नये नियमों को बनवा कर उनका पालन करवाने के लिये भी एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जिसे सूरिजी ने पूर्ण कर दिया।

(३) नये जैन बनाने पर भी अजैनों के साथ उनका व्यवहार बंद नहीं करवाया था; क्योंकि किसी भी क्षेत्र को संकुचित

बनाना वे पतन का प्रारंभ समझते थे। पर किसी संगठित संस्था के अभाव में वे नये जैन शेष रहे हुए आचार-पतित अजैनों की संगति कर भविष्य में पुनः पतित न बन जायं, इस कारण से भी एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जिसकी सूरिजी ने पूर्त्ति की।

(४) ऐसी संस्था के होने पर अन्य स्थानों में अजैनों को जैन बना कर संस्था में शामिल कर लिया जाय तो नये जैन बनाने वालों को और बनने वालों को अच्छी सुविधा रहे, इस लिए भी ऐसी संस्था की जरूरत थी।

(५) ऐसी संस्था होने से ही संगठन बल उत्तरोत्तर बढ़ता गया और संगठन बल से ही धर्म या समाज उन्नति के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है। अतः ऐसी संस्था होना जरूरी है।

(६) संस्था का ही प्रभाव था कि जो महाजन संघ लाखों की तादाद में था वह करोड़ों की संख्या तक पहुँच गया।

(७) ऐसी सुदृढ़ संस्था के अभाव से ही पूर्व आदि प्रान्तों में जो लाखों करोड़ों जैन थे वे जैन धर्म को छोड़ कर मांसाहारी बन गए। यदि उस समय वहां भी ऐसी संस्था होती और उसका कार्य ठीक तौर पर चलता तो आज "सराक" जैसी जैन धर्म पालन करने वाली जातियों को हम हमारे से बिछुड़ी हुई कभी नहीं देखते, अतएव ऐसी संस्था का होना अत्यन्त आवश्यक था।

(८) संस्था का ही प्रभाव है कि आज "महाजन संघ" भले ही अल्प संख्यक हो, पर वह जैन धर्म को अपने कंधे पर लिए समग्र संसार के सामने टक्कर खा रहा है अर्थात् उसे जीवित रख सका है। यह भी "महाजन संघ" बनाने का ही

फल है अन्यथा इस धर्म का भी अन्यान्य अनेकों धर्मों के सदृश नामाऽवशेष रह जाता।

इत्यादि "महाजन संघ" संस्था स्थापित करने में जो लाभ आचार्य श्री ने देखे थे वे सबके सब आज महान् उपयोगी सिद्ध हुए दीख रहे हैं।

पर दुःख है कि कई अज्ञ लोग वर्तमान "महाजन संघ" की पतित दशा को देख यह सवाल कर उठते हैं कि पूर्वाचार्यों ने क्षत्रिय जैसी बहादुर कौम को महाजन बना कर उसे डरपोक बना दिया, इसी से ही जैन धर्म का पतन हुआ है इत्यादि।

परन्तु यह सवाल तो वही कर सकता है जिसको कि इतिहास का जरा भी ज्ञान नहीं है। यदि ऐसा न होता तो वे स्वयं अपनी बुद्धि से ही सोच सकते थे कि जो लोग मांस मदिरा और व्यभिचारादि का सेवन कर नरक में जाने के अधिकारी बन रहे थे उनको सदाचारी एवं जैन बना कर स्वर्ग मोक्ष का अधिकारी बनाया तथा यह केवल उन लोगों के लिए ही नहीं पर उनकी वंश परम्परा जहाँ तक जीवित रहेगी वहाँ तक उनके लिए भी है। ऐसी दशा में भला उन आचार्यों ने इसमें बुरा क्या किया? उन आचार्यों का तो उल्टा महान् उपकार मानना चाहिये परन्तु जो उपकार के बदले अपकार मानते हैं उनके सिवाय वज्र-पापी ही कौन हो सकता है?

यदि वे आचार्य, उन क्षत्रियों को जैन महाजन नहीं बनाते तो वे हाथ में अस्त्र लेकर हरिण, लोमड़ी और मच्छियों आदि की शिकार करते। और उन्हें महाजन बना दिया तो वे राजतंत्र या बड़े बड़े व्यापार व वर्तमान में दुकान में बैठ कर व्यापार कर

रहे हैं। इनमें आप किसको ठीक समझते हैं ? मैंने तो यह वर्त्तमान व्यवस्था का एक उदाहरण दिया है, पर पहिले जमाने के महाजनों का इतिहास तो कुछ और ही वीरता से ओत प्रोत है।

देखिये! पूर्व आदि प्रान्तों में लाखों करोड़ों जैनधर्मोपासक थे, पर वहाँ ऐसी कोई संगठित संस्था न होने से वे जैन धर्म से हाथ धो बैठे और मांस मदिरादि सेवन करने लग गए। किन्तु "महाजन संघ" आज भी उन दुर्व्यसनोंको घृणा की दृष्टिसे देखता है और पवित्र जैन धर्म का यथाशक्ति आराधन करता है। क्या यह महाजनों का काम महत्व का नहीं है ? क्या उन आचार-पतित क्षत्रियों से महाजन हलके समझे जा सकते हैं ? (नहीं कभी नहीं) महाजनों की बराबरी तो वे आचार-पतित क्षत्रिय आज भी नहीं कर सकते हैं। हाँ, महाजन लोग अपने रीत रिवाज आचार और धर्म से पतित हो गये हों, उनकी तो बात ही दूसरी है।

"महाजन संघ" बनाने से न तो उन क्षत्रियों की बहादुरी गई थी और न उनका पतन ही हुआ था। महाजन संघ ने जो २ बहादुरी के काम किये हैं वे शायद ही किन्हीं औरों ने किये हों! महाजन संघ में वीरता के साथ उदारता भी कम नहीं थी और इस विषय के उल्लेखों से साराइतिहास भरा पड़ा है। फिर भी समझ में नहीं आता है कि अज्ञ लोग उन पूज्याचार्यों के उपकार के स्थान में उनका अपकार क्यों मानते हैं ? क्या महाजनों के पतन का प्रधान कारण यह कृतघ्नता ही तो नहीं है ?

महाजन संघ में कायरता आना एवं उसका पतन होना, इसका कारण "महाजन संघ" बनाना नहीं पर इसका कारण कुछ और ही है, जिसके लिए मैंने "वर्तमान जैन समाज की परिस्थिति

पर प्रश्नोत्तर" नामक पुस्तक लिखी है उसको मंगाकर पढ़ें ताकि आपको पता पड़ जायगा कि वास्तव में महाजन संघ के पतन के कारण क्या हुए हैं !

आचार्य श्री ने शुरू में जो शिक्षा दी थी, उस पर "महाजन संघ" जब तक चलता रहा तब तक तो वह श्री संपन्न और उन्नत ही रहा। किन्तु जब से उस शिक्षा का अनादर कर अन्य मार्ग का अवलंबन करना शुरू किया तब से ही महाजन संघ के पतन का श्री गणेश हुआ। यदि महाजन संघ अब भी उस असली शिक्षा का आदर करे तो उसकी उन्नति के दिन दूर नहीं किन्तु बहुत ही पास हैं। क्योंकि जो लोग कभी उन्नति का शब्द भी नहीं जानते थे वे भी अब अपनी उन्नति कर रहे हैं तो जो वस्तु खास महाजनों के घर की है उसमें उन्हें क्या देर लगती है। पर जो लोग अपने कलंक को पूर्वाचार्यों के शिर मढ़ना चाहें वे उन्नति की आशा स्वप्न में भी कैसे रखेंगे ?

(१) भला ! आप स्वयं विचार करें कि "पूर्वाचार्यों ने यह कब कहा था कि हम जिन पृथक २ जातियों को समभावी बना उन सबका संगठन कर 'महाजन संघ' बना रहे हैं उसे तुम आगे चल कर तोड़ फोड़ टुकड़े २ कर डालना ?" यदि नहीं, तो फिर तुम आज किसकी आज्ञा से "हम बड़े तुम छोटे, हम मारवाड़ी तुम गुजराती, हम ओसवाल तुम पोरवाल, हम मुत्सद्दी तुम बाजार के बनिये, हम बड़े तुम लोड़े आदि शब्दों से अपनी मिथ्या महत्ता को प्रकट कर उनके साथ बेटी व्यवहार के नाम से भड़-कते हो, जब कि उनके साथ २ बैठ तुम्हें रोटी खाने खिलाने में कोई द्वेष नहीं है।

(२) हम जिस प्रेम सूत्र में तुम सबको आबद्ध करते हैं उसको तुम सब आपस में लड़-झगड़ कर संघ में फूट और कुसंयम, का दावानल फैला देना या कुत्तों की भांति लड़ते रहना।

(३) हम झूंठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार बढ़ाना विश्वासघात, धोखाबाजी आदि कुकृत्यों के छोड़ने की शपथ दिलाते हैं और प्रतिज्ञा कराते हैं कि तुम इन्हें कभी मत करना, परन्तु तुम आज इन्हीं कार्यों को दिन धोले करते हो।

(४) "मैं स्वधर्मी भाइयों की वात्सलता और निर्बलों की सहायता करूंगा" इसकी पूर्वाचार्यों ने प्रतिज्ञा करवाई थी, किन्तु आज तुम गरीबों के गले घोंट उनको दिन-दहाड़े दुःखी करते हो।

इत्यादि महाजनों की दुर्नीति से ही महाजनों का पतन हुआ है। वरना आचार्यों का शुभ उद्देश्य तो महाजन लोगों को इस भव और परभव में सुखी बनाने का ही था और इस उज्ज्वल उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर उन पतित क्षत्रियों का "महाजन संघ" बनाया था और बहुत समय तक उनका उद्देश्य सफल भी रहा। इसी प्रकार पिछले आचार्यों ने महाजन संघ का पोषण एवं वृद्धि की थी।

खैर ! आचार्य रत्नप्रभसूरि ने केवल "महाजन संघ" ही बनाया था तो फिर उपकेशवंश, ओसवंश, ओसवाल और इसमें भी हजारों गोत्र एवं जातियाँ कैसे, कब और किसने बनाईं ?

हाँ, इसका भी कारण अवश्य है और वह यह है कि प्रारम्भ में तो आचार्य रत्नप्रभसूरि ने वीरात् ७०वें वर्ष में उपकेशपुर में एक महाजन संघ की ही स्थापना की थी और

उस समय से ३०० वर्षों तक तो इस महाजन संघ का खूब अभ्युदय होता रहा। परन्तु बाद में भवितव्यता के वश उपकेशपुर स्थित महावीर की मूर्त्ति के वक्षःस्थल पर जो दो ग्रंथियाँ थीं उन्हें किन्हीं नवयुवकों ने सुथार से छिदवा दी, इस कारण देवी का बड़ा भारी कोप ❀ हुआ और कई लोग उपकेशपुर का त्याग कर अन्य नगरों में जा बसे वहाँ वे उपकेशपुर से आये हुए होने के कारण उपकेशी के नाम से और बाद में वे ही उपकेशवंशी के नाम से प्रसिद्ध हो गए और वही उपकेश वंश पीछे से शिलालेखों में भी लिखा जाने लगा।

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास में जब उपकेशपुर का अपभ्रंश नाम ओसियां होगया तब उस नगर में रहने वालों को भी लोग ओसवाल कहने लग गये। तथापि संस्कृत साहित्य में अथवा मन्दिर मूर्त्तियों के शिलालेखों में उएश, उकेश एवं उपकेश वंश शब्द ही का प्रयोग हुआ है। आज इस विषय के हजारों शिला लेख प्राप्त हुए हैं उनमेंसे दो चार शिलालेखों में ओसवंश भी लिखा हुआ है पर यह तेरहवीं शताब्दी का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त सब स्थानों पर उएश, उकेश और उपकेश शब्द का ही प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। अतएव यह निश्चय हो जाता है कि इस वंश का मूल नाम तो "महाजन संघ" ही था, बाद में उपकेशपुर के कारण उपकेश वंश हो गया और उपकेशपुर का अपभ्रंश नाम ओसियां होने से वहां के लोग ओसवाल कहलाने लगे।

❀ इसकी शान्ति आचार्य कक्कसूरि ने करवाई थी। देखो 'जैन जाति महोदय' किताब।

अब रहा "महाजन संघ" के पृथक् २ गोत्र और हजारों भिन्न २ जातियों का होना, सो इसके लिए यह समझना कठिन नहीं है कि गोत्र तो इसके पूर्व भी थे और गृहस्थों के लिए इसकी जरूरत भी थी, क्योंकि आर्य-प्रजा में यह पद्धति थी कि जब किसी लड़की लड़के की शादी करना हो तो कई गोत्र छोड़ कर शादी की जाती थी। इसलिए गोत्रों का होना कोई बुरा नहीं अपितु आर्य मर्यादा के लिए अच्छा ही है और यह व्यवहार आज भी अक्षुण्ण रूप से चला आता है। अब रहा एक गोत्र की अनेक जातियों का होना सो यह तो उल्टा महाजन संघ के उत्कृष्ट अभ्युदय का ही परिचायक है। जैसे एक पिता के दश पुत्र हैं और वे सब के सब बड़े ही प्रभाविक हुए तो एक ने तीर्थयात्रार्थ संघ निकाला और उसकी संतान तब से संघी कहलाई। दूसरे ने मंदिर को कैसर की बालद चढ़ा दी, उसकी संतान केसरिया कहलाई। किसी ने कोठार का काम किया तो उसकी संतान कोठारी के नाम से मशहूर हुई। इत्यादि ऐसे अनेक कारण हुए जिनसे अनेकों जातिएँ हुई। जैसे:—

१—भंडारी, कोठारी, कामदार, खजानची, पोतदार, चौधरी, दफ्तरी, मेहता, कानूँगा, पटवा, बोहरा, संघी आदि नाम पेशों से हुए हैं।

२—धूपिया, गुगलिया, घीया, तेलिया, केशरिया, कपूरिया, कुंकुंम, नालेरिया, बजाज, सोनी, गांधी, जड़िया, जौहरी आदि नाम व्यापार करने से हुये हैं।

३—हथुड़िया, जालौरी, नागौरी, रामपुरिया, साँचोरी, सीरोहिया, फलोदिया, पोकरणा, मंडोवरा, मेड़तिया, चंडालिया,

कुचेरिया, हरसोरा, बोरूदिया इत्यादि जातियों के नाम नगरों से पड़े हैं।

४—सांड, सियाल, नाहर, हिरण, काग, बगुला, गरुड़, मिन्नी, चील, हंसा, मच्छा, बकरा, धाड़ीवाल, धोखा, बागमार, मुर्गीपाल, चामड़, ढेढिया, बलाई, तुरकीया, फितूरिया, घोड़ावत आदि जातियों के नाम हँसी ठट्ठे से पड़े हैं।

५—पातावत, सिंहावत, बछावत, मालावत, भांडावत, लूनावत, जीवाणी, लालाणी, सुखाणी, रासाणी आदि जातियों के नाम उनके पूर्वज पिता से प्रसिद्ध हुए हैं।

६—हथुड़िया, राठौर, सोलंकी, चौहान, पंवार, हाड़ा आदि असली राजपूतों की जो जातियां थीं वे ज्यों की त्यों रह गईं।

७—दाड़मियां, बादामियां, दाखा, हिंगड, संगरिया, कुमट, गुगलिया, गुंदिया, आदि मजाक से पड़े हैं।

८—सूरा, शूरमा, रणधीरा, बागमार, योधा, जुजारा, आदि वीरता के कारण हुए हैं।

यदि इस प्रकार ओसवालों की सब जातियों के केवल नाम ही लिखे जाएँ तो एक स्वतंत्र ग्रंथ बन सकता है और इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। क्योंकि जब एक वृहत् वृक्ष फलता फूलता है तब उसकी शाखा प्रतिशाखाएँ गिनना अच्छे २ गणित शास्त्रियों के लिए भी दुर्गम हो जाता है। इसी भांति जब "महाजन संघ" का अभ्युदय काल था तब इसके एक-एक गोत्र में इतने नामांकित पुरुष स्वकार्यों से प्रसिद्ध हुए कि उनके नामों से स्वतंत्र सैकड़ों जातियें बन गईं जो आज उनके भूत अभ्युदय की साक्षी दे रही हैं। उदाहरणार्थः—एक आदित्य-

नाग गोत्र की चोरड़िया, गुलेच्छा, गद्दइया, पारख, नावरिया, बुचा, सावसुखा आदि ८४ जातियें बन गई हैं। इसी तरह, अन्य गोत्रों के लिये भी समझ लेना चाहिये।

पर दुःख और महादुःख तो इस बात का है कि वृक्ष कितना ही बड़ा और शाखा प्रतिशाखा संपन्न हो पर जब उसके अंग प्रत्यंगों में असाध्य रोग पैदा हो जाता है तब वे शाखा प्रतिशाखायें तो क्या पर स्वयं वृक्ष ही मूल से नष्ट हो जाता है और यदि कुछ शेष रह भी जाता है तो केवल देखने को निर्जीव स्थाणु नजर आता है। यही हाल हमारी ओसवाल जाति का भी हुआ है कि इसने आज कई एक संक्रामक रोगों को अपने अंग प्रत्यंगो में ही नहीं किन्तु रोम रोम में व्याप्त कर रखा है। इससे यह मात्र देखने को निर्जीव सी नजर आती है किन्तु वास्तव में इसमें कोई वास्तविकता शेष नहीं रह गई है और इस जाति की विशेष संख्या का नाम केवल कुलगुरुओं की वंशावली की बहियों में ही रह गया है।

"महाजन संघ" जैसा आजकल नजर आता है पूर्वकाल में ऐसा ही नहीं था परन्तु भारत और भारत के बाहिर क्या राजतंत्र चलाने में, क्या युद्ध विजय करने में, क्या व्यापार में, क्या धर्मकार्यों में द्रव्य व्यय करने में, और क्या दुकाल सुकाल या जुल्मी बादशाहों की करबन्दी में, पीड़ित देश भाइयों का उद्धार करने में बड़ा ही वीर एवं उदार था। यही कारण था कि उस समय के राजा महाराजा, बादशाह एवं सर्व साधारण नागरिकों की ओर से उस महाजन संघ को जगत सेठ, नगर सेठ, पंच, चोवटिया, चौधरी और टीकायत आदि महत्वशाली पदवियों से

भूषित किया गया था। और आज भी यदि इन पूर्वोक्त पदवियों का कहीं अस्तित्व शेष है तो इस महाजन संघ में ही है। यह महाजन संघ का भूतकालीन महत्व बतला रहा है या पतन ?

पर प्रकृति का एक यह भी अटल नियम है कि संसार में सदा एक सी स्थिति किसी की न तो रही और न रहती है। यही नियम महाजनों के लिये भी समझ लीजिये। फिर उन महान उपकारी पूर्वाचार्यों पर यह दोष लगाना कि उन्होंने महाजन संघ बना कर बुरा किया, यह सरासर अन्याय और अज्ञानता का दिग्दर्शन नहीं तो और क्या है ?

"यदि आचार्य रत्नप्रभसूरि ने ही "महाजन संघ" की स्थापना की थी तो इसका गच्छ भी एक ही होना चाहिए था परन्तु आज तो हम एक-एक जाति के भी जुदे २ अनेकों गच्छ देखते हैं। जैसे एक ग्राम में एक जाति अमुक गच्छ की उपासक है तो दूसरे ग्राम में वही जाति किसी अन्य गच्छ की उपासक तथा तीसरे ग्राम में फिर वही जाति तीसरे गच्छ की उपासक पाई जाती है, ऐसा क्यों ?"

यह बात तो हम ऊपर लिख आये हैं कि भगवान् महावीर की सन्तान पूर्व भारत में विहार करती थी और उनका गच्छ उस वक्त सौधर्म गच्छ था, तथा प्रभु पार्श्वनाथ की सन्तान पश्चिम भारत में एवं राजपूताना और मरुधर आदि प्रदेशों में भ्रमण कर अजैनों की शुद्धि कर नये जैन बना एवं जैन धर्म का प्रचार करने में संलग्न थी और उनका गच्छ उपकेश गच्छ था। उपकेशगच्छ का यह कार्य १०० वर्ष तक तो बड़े ही वेग से चलता रहा, यहाँ तक कि मरुधर के अतिरिक्त सिंध, कच्छ, सौरठ, अवंती, मेद-

पाट, लाट आदि प्रान्तों में इतने नूतन जैन बना दिये कि जिनकी संख्या लाखों नहीं पर करोड़ों तक पहुँच गई थी।

किन्तु आचार्य भद्रबाहु के समय पूर्व भारत में एक द्वादश वर्षीय महा भयंकर दुष्काल पड़ा। इस हालत में वहाँ साधुओं का निर्वाह होता नहीं देख आचार्य भद्रबाहु आदि बहुत से साधुओं ने नैपाल आदि प्रान्तों की ओर विहार किया और शेष साधुओं ने वहीं रह कर ज्यों-त्यों करके अपना गुजारा किया। जब दुष्काल का अन्त हो सुकाल हो गया तब श्री संघ ने आमंत्रण पूर्वक भद्रबाहु स्वामी को बुला कर पाटलीपुर नगर में जैनों की एक सभा की, इत्यादि। इस कथन से कहा जा सकता है कि आचार्य भद्रबाहु के समय तक तो सौधर्माचार्य की संतान का विहार-क्षेत्र प्रायः पूर्व भारत ही रहा। पर बाद में वीर की तीसरी शताब्दी में पूर्व में फिर एक दुष्काल पड़ा और उस समय शायद पूर्व विहारी साधु गण ने पश्चिम भारत की ओर विहार किया हो तो यह संभव हो सकता है, क्योंकि आचार्य सुहस्तीसूरि ने उज्जैन नगरी में पधार कर सम्राट् संप्रति को प्रतिबोध दे जैन धर्म का उपासक बनाया और सम्राट् के आग्रह एवं प्रयत्न से उज्जैन में आचार्य सुहस्तीसूरि की अध्यक्षता में जैनों की एक विराट् सभा हुई और उसमें जैन धर्म के प्रचार के लिए खूब ही जोर दिया गया एवं सम्राट् संप्रति की सहायता से आचार्य सुहस्तीसूरि ने श्रमण संघ को पश्चिम भारतादि कई प्रान्तों में जैन धर्म का प्रचार करने को भेज पार्श्वनाथ के संतानियों का हाथ बँटाया होगा। पर उस समय विशेष गच्छों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ बल्कि अखिल जैन शासन में मुख्य दो ही गच्छ थे

(१) सौधर्मगच्छ, जो वीर संतान (२) उपकेश गच्छ जो पार्श्व संतान थी और इन दोनों गच्छों के आचार्य आपस में मिल-जुल कर जैन धर्म का प्रचार किया करते थे। पश्चिम भारत में जो कोई आचार्य नये जैन बनाते वे उन सबको पूर्व स्थापित महाजन संघ में शामिल कर देते थे क्योंकि वे अलग २ टोलियों के बजाय एक संघ में ही सभी को संगठित करने में अपना गौरव और शासन का हित समझते थे और यह प्रवृत्ति आखिर नये जैन बनाये तब तक सामान्य विशेष रूप से चलती ही रही। इस बात की पुष्टि आज भी हजारों शिलालेख कर रहे हैं। देखिये क्या रत्नप्रभसूरि आदि उपकेशगच्छ के आचार्यों के बनाये हुए अजैनों को जैन, तथा क्या अन्य गच्छीय आचार्यों के बनाये नये जैन, इन सब के नामों के साथ "उएश-उपकेश आदि शब्दों का प्रयोग शिलालेखों में प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है और उप-केश वंश जैसा उपकेशपुर से संबंध रखता है वैसा ही उपकेश गच्छ से भी संबंध रखता है। अतएव महाजन संघ का गच्छ एक उपकेश गच्छ ही था और ऐसा होना न्याय-संगत एवं युक्ति-युक्त भी है क्योंकि उपकेश गच्छाचार्यों ने ही तो इस महाजन संघ की शुरू में स्थापना की थी और विशेषकर इसी गच्छ के आचार्यों ने इसका (महाजन संघ का) सिंचन पोषण और वृद्धि भी की है और आगे चल कर बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में जो क्रिया भेद के नये गच्छ पैदा हुए हैं उन्होंने तो महाजन संघ का पोषण नहीं पर उसे छिन्न भिन्न कर उसका शोषण ही किया है।

पूर्व जमाने के निःस्पृही जैन निग्रन्थों को न तो गच्छ का ममत्व भाव था और न वे ऐसा करने में शासन का हित ही सम-

झते थे, केवल अपने अपने शिष्य समुदाय को वाचना देने को या अपनी अपनी गुरु परम्परा व्यवस्थित रहने की गर्ज से ही वे लोग गच्छों को उपादेय समझते थे।

कल्प सूत्र की स्थविरावली से पता चलता है कि आर्य भद्रबाहु एवं सुहस्तीसूरि के समय से ही कई गण (गच्छ) एवं शाखाएं निकलनी शुरू तो हो गई थीं पर उनके अन्दर सिद्धान्त या क्रिया-भेद नहीं था और यह प्रवृत्ति प्रायः विक्रम की दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी तक ठीक चलती रही और जहाँ तक आचार्यों में किसी बात का विशेष मत-भेद नहीं था तथा आपसी क्लेश कुसंपादि का भी प्रायः अभाव ही था, वहाँ तक महाजन संघ का भी प्रति दिन खूब उदय होता ही गया। किन्तु कलिकाल के कुटिल प्रभाव से ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में उन गच्छों की उत्पत्ति हुई जो आपस में सिद्धान्त भेद, क्रिया भेद आदि डाल कर एक दूसरे को मिथ्यात्वी और निन्हव शब्दों से संबोधित करने लगे। बस उसी, दिन से संघ के दिन फिर गए और उन गच्छनायकों को ममत्व एवं स्वार्थ ने उनका मूल ध्येय भुला दिया। इससे वे लोग अपनी अपनी वाड़ा बन्धी में ही अपनी उन्नति एवं कल्याण समझने लगे।

दूसरा एक और भी कारण हुआ कि चैत्यवासियों ने मंदिरों के निर्वाह के लिए एक ऐसी योजना तैयार की थी कि जिससे श्रावकों की मन्दिर एवं धर्म पर अटूट श्रद्धा बनी रहे और मन्दिरों का भी काम सुचारु रूप से चलता रहे। वह योजना यह थी कि उन चैत्यवासी आचार्यों ने अपने अपने मंदिर के गोष्ठी (सभासद्) बना दिये थे, इसमें विशेषतः वे ही लोग

भरती होते थे जो कि मन्दिर के नजदीक रहते थे। यदि एक पिता के दो पुत्र हों और वे पृथक् २ मन्दिरों के पास रहते हों तो नियमानुसार वे उन पृथक् २ दो मन्दिरों के सभासद् बन जाते थे। इसी प्रकार एक बाप के अनेक पुत्र हों या एक गोत्र के अनेकों घर हों और वे सब अन्यान्य ग्रामों में रहते हों तो एक भाई एक ग्राम में एक मंदिर का और दूसरा भाई दूसरे ग्राम में दूसरे मंदिर का सभासद बन सकता था। अतः इस प्रकार की प्रवृत्ति से मंदिरों का प्रबन्ध खूब व्यवस्थित हो गया और यह प्रवृत्ति सर्वत्र फैल भी गई, जिससे उन मंदिरों की जुम्मेवारी का बोझा भी उन चैत्यावासियों के शिर से हलका हो गया और उन सभासदों की देख रेख में मंदिरों का काम भी चारुतया चलता रहा। तथा इसके साथ एक यह भी नियम बना दिया कि जब कभी तुम किन्ही प्रसंगों पर मंदिरों को कुछ अर्पण करना चाहो तो जिस मंदिर के तुम सभासद हो उस मंदिर में अन्य मंदिरों से द्विगुण द्रव्य देना; क्योंकि इससे दान देने वाले को ही नहीं पर उनकी वंश परम्परा को भी इस बात का स्मरण रहे कि यह हमारा मंदिर है इत्यादि।

जिस समय उक्त प्रवृति प्रारंभ हुई उस समय उन चैत्यवासी आचार्यों के सरल हृदय का उद्देश्य चाहे मंदिरों के रक्षण करने का ही होगा तथा श्रावक लोग भी पास में मंदिर होने से सभासद बन गए होंगे, पर वे आचार्य तथा श्रावक अच्छी तरह से जानते थे कि अमुक श्रावक अमुक आचार्य का प्रतिबोधित श्रावक है और इसका अमुक गच्छ है।

पर कालांतर में इसका रूप भी बदल गया और उन चैत्य-

वासी आचार्यों की संतान ने उन श्रावकों की संतान पर छाप ठोक दी कि तुम हमारे गच्छ के श्रावक हो, हमारे पूर्वजों ने तुम्हारे पूर्वजों,को मांस मदिरा आदि छुड़ा के श्रावक बनाय था, इसीलिए तुम्हारे पूर्वज हमारे मंदिर उपाश्रय की डबल लाग देते आए हैं, अतएव तुम हमारे गच्छ के श्रावक हो। और इस विषय के कई कल्पित लेख बनाकर लिपिबद्ध कर लिए। फिर क्या था श्रावकों के गले में तो उन्होंने पहले ही से अपनायत की जंजीर डाल दी थीं कि अन्य मन्दिरों से अपने मन्दिर की डबल लाग दो तथा पर्वादि दिनों में उसी उपाश्रय का व्याख्यान सुनो इत्यादि।

उपरोक्त इन कारणों से श्रावकों के संस्कार ऐसे सजड़ जम गए कि हम इसी मन्दिर, उपाश्रय और गच्छ के श्रावक हैं। इस प्रकार से एक ही गांव के पृथक् २ दो मंदिरों के अथवा पृथक २ गांवों के मंदिरों के सभासद एक गोत्रीय होते हुए भी मन्दिरों के सभासदत्व के कारण अपनी सरल प्रकृतिवश अन्यान्य गच्छों के उपासी हो गये जो कि आज भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

किंतु जब कभी संघ निकालने या प्रतिष्ठा करवाने के समय वासक्षेप देने का काम पड़ता तब आपस में गच्छनायकों के वाद-विवाद खड़ा हो जाता, क्योंकि जिस जाति के जो असली प्रतिबोधक आचार्य थे उनकी संतान ही उनको वासक्षेप देने की अधिकारिणी थी। पर जब वे श्रावक अपने गच्छ को भूल कर मन्दिरों के सभासद बनने से अन्य गच्छ के उपासक बन गये तो विवाद होना स्वाभाविक ही था। तथापि उस समय शासन हित-चिन्तक आचार्य विद्यमान थे और वे इस बात को भी जानते थे

कि महाजन संघ पर मूल उपकार तो अमुक आचार्यों का ही है अतएव उन्होंने वि० सं० ७७५ में भाण राजा के संघ के समय एकत्रित हो इस बात का प्रबन्ध कर लिखित कर लिया कि कोई भी श्रावक किसी भी मन्दिर उपाश्रय, का सभासद क्यों न बन जाय, पर जब वासक्षेप देने का काम पड़ेगा तब तो उनके मूल प्रतिबोधक आचार्य की संतान होगी वही वासक्षेप देगी; इसमें किन्ही अन्य गच्छ वालों को वाद-विवाद करने की आवश्यकता नहीं है। इस आशय का लिखत करने में निम्नलिखित आचार्य सहमत थे:—

(१) नागेन्द्र गच्छीय—सोमप्रभसूरि।
(२) निवृत्ति गच्छीय—महेन्द्रसूरि।
(३) विद्याधर गच्छीय—हरियानन्दसूरि।
(४) उपकेश गच्छीय—सिद्धसूरि।
(५) ब्राह्मण गच्छीय—जज्जगसूरि।
(६) चंद्र गच्छीय—पद्मप्रभसूरि।
(७) कोरंट गच्छीय—सर्वदेवसूरि।
(८) वृद्ध गच्छीय—उदयप्रभसूरि।
(९) संडारा गच्छीय—ईश्वरसूरि।

इनके अलावा २८ आचार्य और कई राजा और श्रावकों की सही हैं "अंचल गच्छ पटावलि पृष्ठ ७९"।

इत्यादि और भी बहुत से आचार्यों की सम्मति से यह लिखत हुआ और इसका पालन भी अच्छी तरह होने से संघ में शान्ति और ऐतिहासिक व्यवस्था ठीक तौर पर चलती रही। तथा बाद में भी इसी प्रकार अन्य कोई भी झमेला पड़ता तो वे

अग्रणी आचार्य एकत्रित हो तत्क्षण उसका निपटारा कर लेते थे। पर पार्टिएँ बना कर उस मामले को साधारण व्यक्तियों के हाथ तक पहुँचने नहीं देते थे। यही कारण है कि चैत्यवासियों के समय का आपसी खंडन मंडन का कोई भी ग्रंथ दृष्टिगोचर नहीं होता है। इससे यह पाया जाता है कि चैत्यवासियों का संगठन बहुत जोरदार था और इसी कारण से वे क्रियोद्धारकों की लंबी चौड़ी पुकारें होने पर भी १२०० तक अपने अखंड शासन को चला सके, और जब दैवदुर्विपाक से उनके अंदर फूट पड़ गई तो तत्काल उनके पैर उखड़ गये।

अस्तु, अब आगे चल कर हम चैत्यवासियों के बाद के क्रिया-उद्धारकों के समय का अवलोकन करते हैं तो पता लगता है कि उन (क्रियोद्धारकों) को तो इस बात (वाडाबंधी) की अनिवार्य जरूरत ही थी; क्योंकि वे समुद्र सदृश शासन से निकल अपनी अलग दुकान जमाना चाहते थे। अतः क्रिया की ओट में जिस-जिस गच्छ के श्रावक उनके हाथ लगे उनको ही अपने पक्ष में मिला कर छप्पन मसाले की खिचड़ी बना डाली। उनकी अनेक चालें थीं जिनमें से कतिपय यहां उद्धृत कर दी जाती हैं :—

१—जिस प्रान्त में पूर्वाचार्य नहीं पहुँचे वहाँ जाकर बिचारे भद्रिक लोगों को अपनी मानी हुई क्रिया करवा कर अपने गच्छ की छाप उस पर लगा दी।

२—किसी श्रावक के बनाए हुए मंदिर को प्रतिष्ठा करवा कर उस पर वासक्षेप डाल दिया और वही उनका श्रावक बन गया।

३—किसी गच्छ के श्रावक के निकाले हुए संघ में साथ गए तो उनको अपनी क्रिया करवा कर अपना श्रावक नियत कर दिया।

४—किसी को मंत्र यंत्रादि बतला कर अपना उपासक बना लिया।

५—किसी को स्वकल्पित लेख बता कर अपना श्रावक बना लिया।

६—किसी को शुष्क क्रिया का आडम्बर बतला कर अपना श्रावक स्थिर कर लिया।

इत्यादि कई प्रकार से प्रपंच रच कर जो पूर्वकाल में संघ का श्रेष्ठ संगठन था उसके टुकड़े २ कर डाले। यही कारण है कि एक ही जाति के लोग एक ही गाँव अथवा ग्रामातर में भिन्न-भिन्न गच्छों के उपासक बन गए।

खैर। यह तो हुआ सो हुआ ही है, पर एक बड़ा भारी नुकसान यह भी हुआ कि उन जातियों का इतिहास भी अस्त व्यस्त हो गया। जैसे कि (१) आदित्यनाग—चोरड़िया गुलेच्छा पारख गदइया सवसुखा नाबरि आदि (२) बाप्पनागबहुफूणा—वाफना जाँघड़ा नाहता वैतालादि (३) बलाह—रांका वांका सेठादि (४) संचेती वगरह जातियों का इतिहास २४०० वर्ष जितना प्राचीन है और इन जातियों के उपदेशक आचार्य रत्नप्रभसूरि थे तथा इन जातियों के कई नररत्नों ने असंख्य द्रव्य व्यय कर एवं आत्मीय पुरुषार्थ द्वारा देश समाज एवं धर्म की बड़ी बड़ी सेवाएँ कर नामना कमाई की। इन जातियों को कई अज्ञ लोग सात आठ सौ वर्ष इतनी अर्वाचीन बतला देते है। यह एक इतिहास का खून नहीं तो और क्या है ? इसका खास कारण तो यह हुआ ज्ञात होता है कि किसी प्रान्त एवं ग्राम में अन्य गच्छीय आचार्यों का अधिक परिचय होने के कारण भद्रिक श्रावक उन्हीं आचार्यों के

गच्छ की क्रिया करने लग गये। फिर तो था ही क्या, वे आचार्य या उनकी संतान ने उन श्रावकों पर यह छाप अंकित करदी कि तुम हमारे गच्छ के श्रावक हो। इतना ही क्यों बल्कि उन्होंने तो कई कल्पित ढंचे भी लिपिबद्ध कर दिये और उनमें प्रस्तुत जातियों की उत्पत्ति का समय अर्वाचीन बतला दिया। फिर भी तुर्रा यह कि उन कल्पित कलेवरों में उन जातियों के विषयमें जिन नाम ग्राम समय आचार्य का उल्लेख किया है इतिहास में उनकी गन्ध तक भी नहीं मिलती है (देखो 'जैन जाति निर्णय' प्रथमाङ्क)। बात भी ठीक है कि जहाँ हवाई किले बना कर अपने इष्ट की सिद्धि करने का प्रयत्न किया जाता हो वहाँ इसके अलावा क्या मिल सकता है। साथ में उन भद्रिक श्रावकों के भी ऐसे सजड़ संस्कार जम गये कि वे सत्य का संशोधन न कर केवल अपने आग्रह को ही अपना कर्तव्य समझ लिया है। यही कारण है कि इस कृतघ्नता के वज्रपाप से वे दिन प्रतिदिन रसातल में जा रहे हैं। क्योंकि एक ही पिता के दो पुत्रों में गच्छों का इतना द्वेष ? इतना वैमनस्य ? इतना ही क्यों पर कभी कभी तो उन पूर्वाचार्यों को भला बुरा कहने में भी नहीं चूकते हैं।

फिर भी मन्दिर मूर्तियों के दर्शन-पूजा वरघोड़ा तीर्थ-यात्रा का संघ प्रभावना स्वामिवात्सल्यादि कार्यों में चतुर्विध संघ का ऐकत्र होने के कारण थोड़ा बहुत संगठन रह भी गया था, परन्तु कुदरत से वह भी सहन नहीं हो सका, अतएव धूम्रकेतु सदृश ढूंढियों और तेरह पंथियों के अलग आन्दोलन से वह भी नष्ट भ्रष्ट हो गया; और ये (ढूंढिये तेरहपंथी) लोग, जिन आचार्यों का महान् उपकार मानना चाहिये था, उल्टे उनके निन्दक बन

गए। बस, खास कर महाजन संघ एवं ओसवाल, पोरवाल, और श्रीमाल जाति का पतन इसी कारण से हुआ है। क्योंकि दुनियां में इससे बढ़ कर और दूसरा वज्रपाप ही क्या हो सकता है कि जिन आचार्यों ने अथाह परिश्रम कर जिनको मांस मदिरादि दुर्व्यसनों से बचा सदाचारी बनाया, आज वे ही लोग उनके उपकारों को भूल उल्टी उनकी निन्दा करें। अरे कृतघ्न भाईयों! अब भी तुम सोचो समझो कि क्या तुम्हारे लिए यही उपयुक्त मार्ग है?

मेरे खयाल से तो निःस्पृही साधुओं को गच्छों का ममत्व रखना लाभ के बदले हानिप्रद ही है। क्योंकि त्यागी साधुओं को सब गच्छों वाले गुरू समझ कर पूज्य भाव से उनकी पूजा उपासना किया करते हैं। परन्तु वे (साधु) ही फिर सब को छोड़ केवल एक गच्छ के ही गुरू क्यों बने? यह तो एक अथाह समुद्र के संग को छोड़ चीलर पानी में आ कर गिरने के सदृश है।

हाँ, वे अलबत्ता जिनमें आत्मीय गुणों का अभास न हो या अपने दुर्गुणों को गच्छ की ओट में छिपाते हों या परिग्रहधारी यति लोग हैं और उनमें कुछ भी योग्यता शेष नहीं है, वे बिचारे इन गच्छों के झगड़ों से लाभ उठा सकते हैं। क्योंकि उपरोक्त लोगों के गच्छ के घर अधिक होंगे उनको पैदास भी अधिक होगी, इसी से वे गच्छों की खीचा-तानी कर श्रावकों को आपस में लड़ाने में लाभ उठा सकते हैं। पर शासन सेवा की दृष्टि से तो इस प्रकार गच्छों की खींचा-तानी कर संघ में क्लेश बढ़ाना उनके लिए भी हानिकारक ही है तथा श्रावकों को भी इसमें अत्यधिक

हानि उठानी पड़ती है। अतएव जैन श्रावकों को चाहिए कि वे खेंचा-तानी में न पड़ कर प्रभु पार्श्वनाथ की संतान का उपकेश गच्छ और महावीर की संतान एवं सौधर्म गच्छ को ही अपना गच्छ समझें, और पूर्व जमाने में जितने प्रभावशाली आचार्य हुए हैं उन सब को पूज्य दृष्टि से देखें, तथा विशेष इस बात की शोध खोज करते रहें कि हमारे पूर्वजों को मांस मदिरादि दुर्व्यसन किन आचार्यों ने छुड़ाया। इसका पता लगा कर उनका उपकार विशेष रूप से मानें, क्योंकि ऐसा करने से ही जैनधर्म की आराधना होगी और इसीसे ही क्रमशः जन्म मरण मिटाकर मोक्ष के अक्षय सुखों के अधिकारी बन सकेंगे।

सज्जनो! उपरोक्त मेरे लेख से आप इतना तो समझ ही गए होंगे कि आचार्य रत्नप्रभसूरि ने सर्व प्रथम वीर सं० ७० में उपकेशपुर में महाजन सङ्घ की स्थापना की और बाद में भी आपकी सन्तान ने इसकी खूब वृद्धि की।

आचार्य रत्नप्रभसूरि के लघु गुरु भाई आचार्य कनकप्रभसूरि थे। आप और आपकी सन्तान ने प्रायः कोरंटपुर के आसपास ही भ्रमण कर धर्म प्रचार किया। इससे इस समूह का नाम कोरंट गच्छ प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने भी महाजन संघ की वृद्धि करने में उपकेश गच्छ के आचार्यों का हाथ बँटाया था।

विक्रम की दूसरी शताब्दी में आचार्य यक्षदेवसूरि द्वारा सौधर्म गच्छ में चार कुल स्थापित हुए चन्द्रकुल, नागेन्द्रकुल निवृत्ति कुल और विद्याधर कुल। इन चार कुलों से विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में कई गच्छ निकले। उनमें कई आचार्य ऐसे

भी हुए कि उन्होंने कई अजैनों को जैन बनाकर उनको अलग नहीं रख पूर्व महाजन संघ में मिला दिया और उन सब जातियों के साथ उएश, उकेश, और उपकेश वंश का विशेषण खुद उन आचार्यों ने ही लगाया ऐसा शिलालेखों से मालूम होता है।

अतएव जैन जातियों का गच्छ उपकेश गच्छ होना ही युक्ति युक्त और न्याय संगत हैं। हाँ कई जातियों के प्रतिबोध आचार्य सौधर्म गच्छीय जरूर हैं, पर उन्होंने अपनी जातियां अलग न रख-कर उपकेश वंश के शामिल करदी थी। इस विषयका विवरण देखो 'जैन जातियों के गच्छों का इतिहास' नामक किताब में तथापि प्रकृत लेख में मैंने मेरी शोध खोज तथा चिरशास्त्राभ्यास से जो कुछ पता लगाया है उसे पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ संक्षेप से उद्धृत किया है। विश्वास है तत्वग्राही इससे कुछ न कुछ लाभ अवश्य उठावेंगे।

अन्त में मैं यह निवेदन करूंगा कि मैंने यह महाजन संघ की उत्पत्ति का इतिहास आप सज्जनों की सेवा में रखा है। यदि यह आपको रुचिकर हुआ तो आगे क्रमशः महाजन संघ के नररत्नों का इतिहास भी इसी प्रकार छोटे छोटे ट्रैक्टों द्वारा आप के पठनार्थ उपस्थित करता रहूँगा जिससे के आपके पास इतिहास की अच्छी सामग्री एकत्र होजायगा—इति शुभम्।

बनारस में

चांदी सोने की चीज़ों का कारख़ाना

जिसमें कि हर प्रकार का चांदी सोने का सामान जैसे–टेबुल, कुर्सी, पलङ्ग, हौदा, गाड़ी, रथ, नालकी, वैदी, चौदह सुपना, सिंघासन, बिजली का झाड़, झूलन तथा हाथी व घोड़े का जेवर, आसा, सोटा, बल्लम, छड़ी वगैरह, गुलाबपास, अतरदान, फूलदान, पानदान, थाली, लोटा, गिलास इत्यादि हर तरह का फर्नीचर तैयार रहता है व ऑर्डर द्वारा ठीक समय पर तैयार किया जाता है।

उचित मूल्य और बढ़िया काम

इसके अलावा बनारसी साड़ियां, लहंगा, दुपट्टा, साफ़ा, खिनखाप, पोत, पातल, खंड और काशी सिल्क के कपड़े भी थोक तैयार रहते हैं—एक दफ़े ऑर्डर देकर अवश्य खात्री कीजिये।

...ाजय।

...रीलाल जैन

...ा–बनारस सिटी

Benares City.

मुद्रक शम्भूसिंह भाटी द्वारा आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, क़ैसरगंज अजमेर में छपी